तृतीय अध्याय

हिंदी की दलित आत्मकथाएँ और समाजशास्त्रीय अध्ययन

साहित्य के विषय में आचार्य रामचन्द्र शुक्ल 'हिंदी साहित्य का इतिहास' में लिखते है कि "प्रत्येक देश का साहित्य वहाँ की जनता की चित्तवृत्ति का संचित प्रतिबिम्ब होता है, तब यह निश्चित है कि जनता की चित्तवृत्ति के परिवर्तन के साथ-साथ साहित्य के स्वरूप में भी परिवर्तन होता चला जाता है।"[1] साहित्य का सम्बन्ध हमेशा से मनुष्य के जीवन चरित्र से रहा है। मनुष्य समाज में रहता है और समाज में राजनैतिक, आर्थिक, धार्मिक, सामाजिक, सांस्कृतिक एवं भाषा के आधार पर परिवर्तन होता है तो साहित्य पर इसका प्रभाव अवश्य पड़ता है। जैसे-जैसे मनुष्य के विचार एवं व्यवहार में अंतर आता है तो उसका प्रभाव समाज में निवास कर रही जनता पर भी पड़ता है। अगर जनता इससे प्रभावित होती है तो साहित्य भी प्रभावित होगा। साहित्य मनुष्य की जीवन-मरण, उल्लास, वेदना, सुख-दुख, आशा, आकांक्षा, की अभिव्यक्ति का साधन न बनकर वह समाज की पीड़ा, वेदना, ग्लानि, उतार-चढ़ाव को भी वाणी दें रहा है। मैनेजर पाण्डेय ने अपनी किताब 'साहित्य और समाजशास्त्रीय दृष्टि' में साहित्य के विषय में बताते है कि "आज के ज़माने में साहित्य की दुनिया केवल सौंदर्य और प्रेम की एकान्त साधन के सहारे नहीं चलती है। वह समाज के आर्थिक ढांचे, राजनीतिक परिवेश, सामाजिक संरचनाओं और सास्कृतिक संस्थाओं से बहुत दूर तक प्रभावित होती है।"[2] इस समय के साहित्य में समाज के परिवर्तन के कई स्त्रोत सामने आते है। इनको नकारा भी नहीं जा सकता है। बिना उनके जाने उसके लक्ष्य तक नहीं पहुँच सकते है। बच्चन सिंह 'साहित्य के समाजशास्त्र में लिखते है कि "लेखक साहित्य का श्रष्टा है। साहित्य में उसके व्यक्तित्व का प्रतिफलन होता है। अत: साहित्य को समझने के लिए लेखक के व्यक्तित्व को रूपायित करने वाले तत्वों का विश्लेषण जरूरी है।"[3] जहाँ साहित्य को जनता की चित्तवृत्ति कहा जा रहा है वही बच्चन सिंह साहित्य लिखने वाले लेखक के जीवन को साहित्य में प्रतिफलन को मुख्य मानते है और आगे कहते है कि "लेखक की वर्गीय स्थिति आर्थिक-सामाजिक समस्यायों के प्रति उसके रूप विचारधारा आदि के

संबंध में उनके फलितार्थों का विवेचन काफी मुश्किल है। वर्गीय स्थिति से किसी लेखक की कृति को अनिवार्यता संबंध करना पर्याप्त भ्रांतिपूर्ण है।"[4] वर्गीय स्थिति को एकदम से ख़ारिज नहीं किया जा सकता है। जैसे कबीर की वर्गीय स्थिति उनके रचना को समझने में मदद साबित होती है। तुलसीदास के अंतर्विरोधों को भी इसी आधार पर समझा जाता है।

3.1 साहित्य और समाज का अंतर्संबंध:

'साहित्य' शब्द का प्रयोग सर्वप्रथम किसके लिए करें या किसे साहित्य कहें? इसमें भी भ्रम की स्थिति बनी हुई है। डॉ. हरद्वारी लाल शर्मा लिखते है कि "हम साहित्य का अध्ययन एक शास्त्र के रूप में प्रारम्भ करें और इसके विषय, क्षेत्र, परिधि, समस्या, गवेषण-विधि, उद्देश्य, आदर्श, संकल्पनाओं का स्पष्टीकरण मूल सिद्धांतों का प्रतिपादन आदि प्रारम्भ करें।"[5] साहित्य के विषय में डॉ. शर्मा ने उसके शुरुआत, विस्तार एवं कारणों के विषय में बताया है। साहित्य के लेखन में स्मृति, कल्पना, प्रवृत्ति और व्यक्तित्व आदि माध्यमों से सृजन की प्रक्रिया शुरू होती है, लेकिन संस्कृति, सभ्यता, नैतिक आदर्श, धार्मिकता, राजनितिक व्यवस्था और आर्थिक स्थिति आदि सभी इसे प्रभावित करती है। "साहित्य की मूल भूमि जन-जीवन है। इसके विस्तार एवं विकास का मार्ग भी जन-जीवन के साथ संबंध है। इस संबंध को अवगत करने के लिए हमें ऐतिहासिक दृष्टिकोण भी समझना चाहिए। साहित्य में एकदम नूतन का सृजन नहीं होता। युगों का प्रयास इसके पीछे रहता है। इस प्रयास का अध्ययन लाभदायक होगा, विशेषत इसलिए कि इसके द्वारा हम विकास का भावी-मार्ग प्रशस्त कर सकेगें। वैसे तो सभी जीवित या अजीवित पदार्थों का इतिहास होता है, परन्तु साहित्य का सीधा संबंध आत्मा से है और वह जड़ प्रकृति और जीवन की भी अपेक्षा अधिक संवेदनशील है।"[6] साहित्य का संबंध समाज के साथ वैसा ही है जैसा आत्मा का संबंध शरीर से होता है। साहित्य का विषय-वस्तु हमेशा मानव मूल्य से होता है। साहित्य की रचना जनता के पठन-पाठन के लिए होती है जिसे पाठक पढ़कर प्रत्येक बिंदु को ठीक से समझ सके, क्योंकि साहित्य में जीवन के भौतिक, आध्यात्मिक, धार्मिक, नैतिक, बौद्धिक और भावात्मक वैज्ञानिक और कलात्मक आदि अंग होते है। "प्राचीन

साहित्य के इतिहास से यह बात स्पष्ट होती है कि अतीत युग में साहित्यकारों का कोई वर्ग नहीं था। केवल महामुनि, ऋषि और वे लोग जिनका जीवन स्वयं सक्रीय उर्वर और गंभीर था, साहित्य सृजन स्वतंत्र सुखाय और लोक- कल्याण के लिए करते थे। उस साहित्य में जो गरिमा और गाम्भीर्य, सत्य और आदर्श की गंध है वह साहित्यकारों के जीवन की उपज है। यदि साहित्य अनंत अंगों को पूर्ण और पुष्ठ बनाना है तो आवश्यक होगा कि वह समाज ही अपने जीवन को विश्व की भांति विशाल और विकासोन्मुख बानवे। सत साहित्य के निर्माण के लिए कोई छोटा रास्ता नहीं है।"[7] साहित्य का मुख्य उद्देश्य समाज कल्याण की भावना अपने अन्दर समाहित किये हुए है। यह मनुष्य की संवेदना का विषय है। मानवीय संवेदना द्वारा सही या गलत के साथ समग्र मानव जाति कल्याण के विषय में सोचती है इसलिए राजनैतिक, सामाजिक, आर्थिक परिवर्तन के लिए किसी एक व्यक्ति पर आरोपित कर देना सही नहीं होगा।

हिंदी में साहित्य को समझाने के लिए प्रेमचंद का प्रसिद्ध लेख 'साहित्य का उद्देश्य' मिलता है, मूलतः यह एक व्याख्यान है जो उन्होंने 1936ई. में लखनऊ में 'अखिल भारतीय प्रगतिशील लेखक संघ' के स्थापना सम्मेलन में अध्यक्ष-पद से दिया था। इस लेख में यथार्थवादी व प्रगतिशील साहित्य-रचना की वकालत की गई है। "साहित्य उसी रचना को कहेंगे, जिसमें कोई सचाई प्रकट की गई हो, जिसकी भाषा प्रौढ़, परिमार्जित और सुन्दर हो, और जिसमें दिल और दिमाग पर असर डालने का गुण हो और साहित्य में यह गुण पूर्ण रूप में उसी अवस्था में उत्पन्न होता है, जब उसमें जीवन की सचाईयाँ और अनुभूतियाँ व्यक्त की गई हों। तिलिस्माती कहानियों, भूत-प्रेत की कथाओं और प्रेम-वियोग के आख्यानों से किसी ज़माने में हम भले ही प्रभावित हुए हों, पर अब उनमें हमारे लिए बहुत कम दिलचस्पी है। इसमें सन्देह नहीं कि मानव-प्रकृति का मर्मज्ञ साहित्यकार राजकुमारों की प्रेम-गाथाओं और तिलिस्माती कहानियों में भी जीवन की सचाईयाँ वर्णन कर सकता है, और सौन्दर्य की दृष्टि कर सकता है; परन्तु इसमे भी इस सत्य की पुष्टि ही होती है कि साहित्य में प्रभाव उत्पन्न करने के लिए यह आवश्यक है कि वह जीवन की सचाइयों का दर्पण हो।"[8] इससे पहले साहित्यकार कल्पना

की दृष्टि के माध्यम से मनोरंजन और अदभुत रस-प्रेम की तृप्ति ही साहित्य का मुख्य प्रवृत्ति मानते थे। साहित्य का वर्तमान जीवन से कोई विशेष लगाव नहीं था, यह कल्पनातीत था। प्रेमचन्द ने अपने वक्तव्य में पहले रसास्वादन एवं मनोरंजनप्रद रचना की बात की और फिर साहित्य के मूल स्वरूप यथार्थवाद एवं लोकमंगल की भावना के विषय में बताया। "काव्य और साहित्य का उद्देश्य हमारी अनुभूतियों की तीव्रता को बढ़ाना है; पर मनुष्य का जीवन केवल स्त्री-पुरुष-प्रेम का जीवन नहीं है। क्या वह साहित्य, जिसका विषय श्रृंगारिक मनोभावों और उनसे उत्पन्न होने वाली विरह-व्यथा, निराशा आदि तक ही सीमित हो- जिसमें दुनिया की कठिनाइयों से दूर भागना ही जीवन की सार्थकता समझी गई हो, हमारी विचार और भाव सम्बन्धी आवश्यकतों को पूरा कर सकता है? श्रृंगारिक मनोभाव मानव-जीवन का एक मात्र है, और जिस साहित्य का अधिकांश इसी से सम्बन्ध रखता हो, वह उस जाति और युग के लिए गर्व करने की वस्तु नहीं हो सकता और न उसकी सुरुचि का ही प्रमाण हो सकता है।"[9] प्रेमचन्द कह रहे है कि श्रृंगार रस साहित्य का विषय हो सकता है लेकिन वह मानव-जीवन का एक भाग है उसको समग्र साहित्य नहीं कह सकते। साहित्य के लिए मुख्य तत्व जीवन की समस्यायों पर भी विचार करना है और उनका निष्कर्ष निकलना है। हजारी प्रसाद द्विवेदी एक लेख 'मनुष्य ही साहित्य का लक्ष्य है' में लिखते है कि "हमारे देश में नाना भाँति के कुसंस्कार और गन्दगी वर्तमान हैं, जबकि हमारे समाज का आधा अंग परदे में ढका हुआ है, जबकि हमारी नब्बे फीसदी जनता अज्ञान के मलवे के नीचे दबी हुई है, तब हमें मानना चाहिए कि अभी दिल्ली बहुत दूर है। हम साहित्य के नाम पर जो कुछ कर रहे हैं और जो कुछ दे रहे हैं, उसमें कहीं बड़ी भारी कमी रह गई है। हमारा भीतर और बाहर अब भी साफ-स्वस्थ नहीं है। साहित्य की साधना तब तक बन्ध्या ही रहेगी जब तक हम पाठकों में एक ऐसी अदमनीय आकांक्षा जाग्रत न कर दें, जो सारे मानव-समाज को भी भीतर से और बाहर से सुन्दर तथा सम्मान-योग्य देखने के लिए सदा व्याकुल रखे।"[10] हजारी प्रसाद द्विवेदी लेख के माध्यम से कहते है साहित्य में आधी आबादी अभी भी मुख्यधारा के साथ नहीं आ पाया है और अधिकांश जनता अभी भी शिक्षा से दूर ही है। तो इस प्रकार जो भी साहित्य में रचा जा

रहा है वह पूर्ण जनमानस की आवाज कैसे हो सकता है? साहित्य किसी एक वर्ग विशेष द्वारा भी नहीं रचा जाना चाहिए जिसमें अन्य लोगों की समस्यायों को नहीं समझ पायेंगे। इस प्रकार साहित्य एकांगी हो जायेगा और एकांगी स्वरूप समाज की दिशा देने के लिए भ्रामक सिद्ध होगा।

कलाकार कभी भी एकांगी नहीं हो सकता है उसको एक धारा में बांधा नहीं जा सकता है। जैसे साहित्यकार निर्धनों, किसानों-मजदूरों, दलितों और स्त्रियों का वर्णन करने के लिए कहा जाता है तो भी यह एकांगी दृष्टि होगी। अज्ञेय एक लेख 'संक्रांति-काल की कुछ साहित्यिक समस्याएँ' में लिखते है कि "साहित्य की प्रेरणा करने वाली मूल शक्ति साहित्यकार की एक आन्तरिक विवशता है। साहित्यकार यद्यपि किसी एक दिशा में जाता है अवश्य, तथापि वह दिशा बाह्य आदेशों द्वारा निश्चित नहीं होती, कवि की व्यक्तिगत परिस्थिति-उसकी आन्तरिक और बाह्य परिस्थिति से उत्पन्न व्यक्तिगत विवशता उसे निश्चित करती है। अतएव किसी एक दिये हुए ढाँचे पर साहित्य का निर्माण करने या करने की आशा भी भ्रामक है।"[11] साहित्यकार को समाज की परिस्थितियाँ प्रभावित करती है जिससे उसको कोई दिशा मिलती है। साहित्य को समाज बहुत हद तक प्रभावित एवं परिवर्तित भी करता है फिर वह चाहे आतंरिक अनुभूति हो या बाह्य। हजारी प्रसाद द्विवेदी लिखते है कि "साहित्य के उत्कर्ष या अपकर्ष के निर्णय की एकमात्र कसौटी यही हो सकती है कि वह मनुष्य का हित साधन करता है या नहीं। जिस बात के कहने से मनुष्य पशु-सामान्य धरातल के ऊपर नहीं उठता, वह त्याज्य है। मैं उसी को सस्ती चीज कहता हूँ। सस्ती इसलिए कि उसके लिए किसी प्रकार के संयम या तप की जरुरत नहीं होगी। धूल में लोटना बहुत आसान है, परन्तु धूल में लोटने से संसार का कोई बड़ा उपकार नहीं होता और न किसी प्रकार के मानसिक संयम का अभ्यास ही आवश्यक है।"[12] साहित्य की आलोचना का केंद्र मानव समाज के कल्याण का विषय होना चाहिए, यह कहा जा सकता है कि साहित्य या कोई रचना से जनक्रांति, सामाजिक बदलाव नहीं हो सकता है लेकिन इससे एक चेतना का विकास जरुर होता है। इस प्रकार साहित्य का कार्य परिवर्तन की चेतना बनाने का कार्य है जो समाज को एक सकारात्मक दिशा दे सके। साहित्य का सम्बन्ध अन्य विषय से देखते है तो नीतिशास्त्र

साहित्य के करीब जान पड़ता है। "नीतिशास्त्र और साहित्यशास्त्र का लक्ष्य एक ही -केवल उपदेश की विधि में अंतर है। नीतिशास्त्र तर्कों और उपदेशों के द्वारा बुद्धि और मन पर प्रभाव डालने का यत्न करता है, साहित्य ने अपने लिए मानसिक अवस्थाओं और भावों का क्षेत्र चुन लिया है। हम जीवन में जो कुछ देखते हैं, या जो कुछ हम पर गुजरती है, वही अनुभव और चोटें कल्पना में पहुँचकर साहित्य-सृजन की प्रेरणा करती हैं। कवि या साहित्यकार में अनुभूति की जितनी तीव्रता होती है, उसकी रचना उतनी ही आकर्षक और ऊँचे दरजे की होती है। जिस साहित्य से हमारी सुरुचि न जागे, आध्यात्मिक और मानसिक तृप्ति न मिले, हममें शक्ति और गति न पैदा हो, हमारा सौन्दर्य-प्रेम न जाग्रत हो, जो हममें सच्चा संकल्प और कठिनाईयों पर विजय पाने की सच्ची दृढ़ता न उत्पन्न करे, वह आज हमारे लिए बेकार है, वह साहित्य कहाने का अधिकारी नहीं है।"[13] साहित्य समस्या से अवगत तो करता ही है साथ-साथ उनके निष्कर्ष की बात भी करता है। समाज के अन्दर इच्छा शक्ति का संचार भी करता है जिससे मनुष्य मानसिक रूप से संबल महसूस करता है। कोई भी रचना का उद्देश्य अगर मनोरंजन है तो वह साहित्य की श्रेणी में नहीं रखा जा सकता है बल्कि मनोरंजन के साथ-साथ उसमें मानव हित का सन्दर्भ समाहित है तो वह बेहतर होगा। मनोरंजक साहित्य के द्वारा पाठक तो पैदा कर सकते है लेकिन उस रचना से समाज को दिशा नहीं दिया जा सकता है। आचार्य रामचंद्र शुक्ल अपने निबंध 'कविता क्या है' में इस विषय पर लिखते है कि "प्राय: सुनने में आता है कि कविता का उद्देश्य मनोरंजन है। पर जैसा कि हम पहले कह आए हैं, कविता का अंतिम लक्ष्य जगत के मार्मिक पक्षों का प्रत्यक्षीकरण करके उनके साथ मनुष्य-हृदय का सामंजस्य-स्थापन है। इतने गंभीर उद्देश्य के स्थान पर केवल मनोरंजन का हल्का उद्देश्य सामने रखकर जो कविता का पठन-पाठन या विचार करते हैं, वे रास्ते ही में जाने वाले पथिक के समान हैं।"[14] मनोरंजन मनोचित्त को भटकने से रोक सकता है। वह साधन हो सकता है साध्य हमारा हमेशा से मानव हित, समाज के स्वरूप की बात करता है। साहित्य के विषय में प्रेमचन्द ने सुसंगत बात की है। "जब तक साहित्य का काम केवल मन-बहलाव का सामान जुटाना, केवल लोरियाँ गा-गाकर सुलाना, केवल आँसू बहाकर जी हल्का करना था, तब तक इसके लिए कर्म

की आवश्यकता न थी। वह एक दीवाना था, जिसका गम दूसरे खाते थे; मगर हम साहित्य को केवल मनोरंजन और विलासिता की वस्तु नहीं समझते। हमारी कसौटी पर वही साहित्य खरा उतरेगा, जिसमें उच्च चिंतन हो, स्वाधीनता का भाव हो, सौन्दर्य का सार हो, सृजन की आत्मा हो, जीवन की सचाइयों का प्रकाश हो-जो हम में गति और बेचैनी पैदा करे, सुलाए नहीं; क्योंकि अब और ज्यादा सोना मृत्यु का लक्षण है।"[15]

समाजशास्त्र को समझने के लिए सर्वप्रथम उसके शब्दों को समझना जरुरी है। सामान्यतौर पर व्यक्तियों के समूह जहाँ धार्मिक, आर्थिक और राजनैतिक आधार पर अन्य समूह से अलग होता है, उसे समाज कहते है। "समाजशास्त्र (Sociology) शब्द की उत्पत्ति लातीनी (Latin) शब्द Socius (अर्थात सहचर) एवं ग्रीक (Greek) शब्द 'logy' (अर्थात का अध्ययन) से हुई है। चूँकि यह शब्द पहले फ्रांसीसी भाषा में आया इसलिए इसका प्रथम बर्तनी 'Sociologic' था।"[16] फ्रांसीसी दार्शनिक आगस्ट काम्टे ने सर्वप्रथम समाजशास्त्र शब्द का प्रयोग किया था। यह विषय फ्रांस में औद्योगिक क्रान्ति से उत्पन्न हुआ था और बाद में यह जर्मनी, इंग्लैंड और यूरोप के अन्य देशों में इसका विस्तार हो गया बाद के समय में यह सारी दुनिया में लोकप्रिय विषय के रूप में स्थापित हो गया है।

'समाज' शब्द आम बोल-चाल की भाषा में प्रयोग किया जाता है। जैसे दलित समाज, पिछड़ा समाज, अल्पसंख्यक समाज और धार्मिक आधार पर भी हिन्दू समाज, मुस्लिम समाज, ईसाई समाज, ब्रह्म समाज इत्यादि प्रजाति के आधार पर भी समाज में भेद है -द्रविड़ समाज, आर्य समाज, चीनी समाज आदि। समाज के उक्त सभी प्रयोग आम जनमानस में करते है, लेकिन समाजशास्त्र के अनुसार समाज की अवधारणा बिल्कुल भिन्न है-"इसका तात्पर्य यह है कि समाज व्यक्तियों का समूह नहीं बल्कि व्यक्तियों के बीच पाया जाने वाला पारस्परिक सम्बन्ध होता है। समाज कोई मूर्त संगठन नहीं है, अर्थात इसको देखा या स्पर्श नहीं किया जा सकता है। वह केवल सामाजिक संबंधों का एक जाल है। (Society is the web of social relationships) इस कथन का तात्पर्य यह है कि समाज

का निर्माण व्यक्तियों से नहीं होता, बल्कि व्यक्तियों के बीच पाये जाने वाले सम्बन्धों से होता है। जब लोग एक व्यवस्था में बंध जाते हैं तो उस व्यवस्था को हम 'समाज' कहते है।"[17] सामाजिक सम्बन्धों से तात्पर्य यह है कि उसका उद्देश्य किसी विशेष कार्य के लिए किया गया हो। सामाजिक सम्बन्धों में भी समय के साथ परिवर्तन होता रहता है। इनके कारणों में धार्मिक, आर्थिक, राजनीतिक एवं तकनीकि है। समाज की विशेषताओं में भौतिक सम्बन्ध भी मुख्य रूप प्रस्तुत करता है। समानता से तात्पर्य विचारों की समानता और उद्देश्य एवं मूल्य की समानता से ही सामाजिक व्यवस्था कायम होती है। समानता के अभाव में लोग कभी एक साथ नहीं रह सकते है। समानता के साथ-साथ भिन्नता भी उतना ही आवश्यक पक्ष है। कार्यक्षमता की भिन्नता, इच्छा एवं आकांक्षा की भिन्नता जिससे प्रतियोगिता की भावना पनपती है, जिससे समाज को एक नयी दिशा मिलती है। समाज में शोषण एवं अन्याय के विरुद्ध संघर्ष हमेशा से होता रहा है शोषण करने के आधार बदलते रहते है। संघर्ष के बाद ही समाज में सामाजिक न्याय एवं समता मूलक समाज की स्थापना होती है। "कार्ल मार्क्स ने कहा है कि वर्ग संघर्ष ही समाज के परिवर्तन का मूल कारण है। समाज की रचना में आमूल परिवर्तन संघर्ष प्रक्रिया की देन हैं। आर्थिक शोषण एवं सामाजिक अन्याय के विरुद्ध मुकाबला सामाजिक संघर्ष के द्वारा ही सम्भव है। यह संघर्ष हिंसक तथा अहिंसक दोनों हो सकता है।"[18] समाज व्यक्तियों के समूह को नहीं कह सकते है बल्कि व्यक्ति-व्यक्ति के बीच और व्यक्ति समूह के बीच जो अन्त:क्रिया होती है। उसके फलस्वरूप जो सामाजिक सम्बन्ध बनते है उसके ताने-बाने से जो सम्बन्ध बनता है उसे समाज कहते है।

किसी भी व्यवस्था को चलाने के लिए कुछ नियम कायदें होते है जो परिवेश एवं वातावरण के अनुकूल होते है। वैसे ही समाज को चलाने या किसी भी समाज के गुण और अवगुण को देखने के लिए हमारे कुछ प्रतिमान माने गये है जिसके द्वारा सामाजिक प्रक्रिया को हम देखते है। जिसे समाजशास्त्र कहते है। "रिचर्ड टी. शैफर (Richard T. Schafer,1985) ने इसे सामाजिक व्यवहार, मानव समूह, लोगों की अभिवृत्ति व व्यवहार पर सामाजिक सम्बन्धों का प्रभाव तथा समाज किस

प्रकार स्थापित होते हैं व बदलते हैं, इन विषयों के व्यवस्थित अध्ययन को समाजशास्त्र कहा है।"[19] समाजशास्त्र मानव वर्ग के सम्पूर्ण विभेद का वर्णन करता है। यह व्यक्ति के मस्तिष्क के अन्दर की अभिवृत्ति और पारस्परिक अन्त:क्रियाओं की जानकारी प्राप्त करता है। "सामाजिक अन्त:क्रिया का अर्थ है लोग एक-दूसरे से किस प्रकार व्यवहार करते हैं तथा एक दूसरे को किस प्रकार प्रभावित करते हैं। यही सामाजिक अन्त:क्रिया लोगों के सामाजिक व्यवहार (परिवार में पत्नी का पति के प्रति व्यवहार, मनमुटाव के कारण इत्यादि) को निश्चित करती है तथा सामाजिक संस्थाओं, परिवार, जाति, विद्यालय इत्यादि का निर्माण करती है।"[19] समाज का अध्ययन करने के लिए व्यक्ति और मानव समूह का एक दूसरे के प्रति व्यवहार आचार विचार का अध्ययन समाजशास्त्र के आधार पर करते है और मानव या व्यक्ति की मन: स्थिति समझने का प्रयास करते है।

साहित्य और समाजशास्त्र के मूल में मनुष्य और उसका कल्याण ही निहीत है। साहित्य मनुष्य के आन्तरिक रूप से परिवर्तित करके मनुष्य को आदर्श रूप में स्थापित करना चाहता है। समाजशास्त्र मनुष्य या समूह के द्वारा किये गये कार्यों का विश्लेषण करके उनके स्वरूप एवं स्थिति में परिवर्तन लाना चाहता है। दोनों का ध्येय मानव कल्याण है लेकिन समाजशास्त्र अपने प्रतिमानों के आधार पर विश्लेषण करके गुणों एवं अवगुणों को दर्शाता है जबकि साहित्य तो एक मानव की आत्मा के द्वारा उसके अन्त:मन को परिवर्तित करने का प्रयास करता है। साहित्य एवं समाजशास्त्र एक दूसरे के लिए अभिन्न विषय है। साहित्य का सम्बन्ध हमेशा से समाज से रहा है, कभी-कभी साहित्य प्रेम एवं सौन्दर्य एवं रहस्य में पड़कर जनमानस की भावना का ध्यान नहीं रखता है। इसी आधार पर आधुनिक साहित्य के विषय में मैनेजर पाण्डेय लिखते है कि "साहित्य की व्याख्या को रहस्यमय केवल वे ही नहीं बनाते जो अनंत, असीम काल, नियति आदि के सहारे साहित्य का महत्त्व समझाते हैं: जो लोग संस्कृति और साहित्य के क्षेत्र की प्रत्येक घटना, क्रिया और वस्तु के किसी अदृश्य साजिश का परिणाम घोषित करते रहते हैं, वे भी आलोचना में रहस्यवाद फैलाते है।"[20] अब साहित्य के आलोचकों को साहित्य की व्याख्या ही नहीं पाठकों के आधार पर उसका सामाजिक एवं सांस्कृतिक

पक्ष भी ध्यान में रखना होगा। मैनेजर पाण्डेय इस विषय पर अपनी बात रखते है कि "साहित्यिक समाजशास्त्र का लक्ष्य केवल व्याख्या नहीं है। यह काम दूसरे आलोचना पद्धतियों में भी होता है। उसका लक्ष्य साहित्यिक कृति की सामाजिक अस्मिता की व्याख्या है। साहित्यिक कृति की सामाजिक अस्मिता रचना के सामाजिक सन्दर्भों और सामजिक अस्तित्व से निर्मित होती है इसलिए साहित्य के समाजशास्त्र में उस पूरी प्रक्रिया को समझने की कोशिश होती है जिसमें कोई रचना साहित्यिक कृति बनती है।"[21]

किसी भी रचना के विषय में बात करने से पूर्व उस समय की स्थिति एवं परिस्थिति को जानने से है, तभी उस साहित्य की पूर्ण व्याख्या हो सकती है क्योंकि रचनाकार की मन:स्थिति के साथ-साथ उस समय की सामाजिक संदर्भो को भी देखना जरुरी हो जाता है। नहीं तो रचना एवं रचनाकार के साथ न्याय नहीं कर सकते है। साहित्य का समाजशास्त्र साहित्य के साथ समाज के संबंधों को सभी स्वरूपों एवं पक्षों से देखने पर जोर देता है। रचना या साहित्य प्रक्रिया के मुख्य पक्षसमाज या व्यक्ति होते है आलोचक रचना के विषय में या लेखक के मन:स्थिति ही उनकी आलोचना का विषय होता है लेकिन साहित्य के समाजशास्त्र में तीनों पक्षों पाठक, लेखक और रचना को देखना पड़ता है।

3.2 साहित्य का समाजशास्त्र और दलित आत्मकथाएँ:

साहित्य के विषय में बीसवीं सदी में सबसे अधिक चिंतन हुआ है। रचना में भाषा की आलोचना मुख्य हो गई थी। साहित्यिक विवेचन केवल रचना की भाषा चिंतन तक ही सीमित हो गया। जिसमें रुपवाद प्रमुख स्थान रखता है, लेकिन बाद में कृति में भाषा के साथ-साथ अन्य तत्वों का होना भी आवश्यक माना जाने लगा है। "अब सम्पूर्ण सामाजिक प्रक्रिया से साहित्यिक प्रक्रिया का सम्बन्ध बदल गया है। आज के समाज से साहित्य के बदले हुए सम्बन्ध को यथार्थवादी ढंग से समझने की जरुरत है न कि उसकी काल्पनिक स्वतंत्रता की रक्षा के लिय तथाकथित अन्तर्वर्ती आलोचना से चिपके रहने की। अब इस कछुआ धर्म से काम नहीं चलेगा। साहित्य का समाजशास्त्र

आधुनिक समाज में साहित्य की वास्तविक स्थिति और भूमिका को यथार्थवादी ढंग से समझने का प्रयत्न करता है।"[22] साहित्य में कल्पना का तत्त्व प्रमुख रूप से रहा है साहित्यकार रचना में कल्पना के लिए स्वतन्त्र रहा है लेकिन आधुनिक समय में साहित्य को यथार्थवाद के प्रतिमान से देखा जाता है। इसलिए समाज के प्रत्येक स्वरूप का साहित्य में वर्णन मुख्य हो जाता है। साहित्य में सामाजिकता की चिंता पहले भी रही है, लेकिन अब व्यवस्थित दृष्टि और पद्धति का विकास हुआ है। "आजकल साहित्य के समाजशास्त्र के विकास की दो धाराएं हैं। एक धारा में साहित्य में समाज की अभिव्यक्ति की खोज होती है। उसे हम मीमांसावादी धारा कह सकते हैं। दूसरी में साहित्य की सामाजिक स्थिति का विवेचन होता है। वह अनुभववादी धारा है। मीमांसावादी धारा के अंतर्गत मार्क्सवादी, आलोचना समाजशास्त्री और संरचनावादी दृष्टियाँ सक्रिय हैं तो अनुभववादी पद्धति में पुरानी विधेयवादी दृष्टि के साथ-साथ संरचनात्मक- कार्यात्मक दृष्टियां सक्रिय दिखाई देती हैं।"[23] साहित्य में पहले रचना को आत्मनिर्भर माना जाता था जिसमें आन्तरिक बनावट और सौन्दर्यबोध पर विशेष जोर दिया जाता था। रचना में अभिव्यक्त समाज उसकी व्याख्या का विषय नहीं होता है। "साहित्य समय विशेष की ऐतिहासिक-सामाजिक स्थितियों, समस्याओं, विचारों, अनुभवों को आत्मसात करके व्यक्त करता है, उस ढंग से साहित्य और समाज के पारस्परिक रिश्ते पर आरम्भ में बल नहीं दिया गया। सामाजिक यथार्थ और सामाजिक चेतना मिलकर कैसे साहित्य के रूप-निर्माण में योग देते हैं, आधुनिक काल में इस पर विचार-विश्लेषण करने की आवश्यकता साहित्य के समीक्षक बराबर महसूस करते रहे हैं। सामाजिक परिवर्तनों से साहित्यिक परिवर्तन कैसे प्रेरित होते हैं, यह एक महत्त्वपूर्ण सवाल है। सामाजिक परिवर्तन तो साहित्यिक परिवर्तन की पहचान कराते ही हैं, साहित्य में भी यह शक्ति होती है कि वह सामाजिक चेतना को प्रेरित और प्रभावित करे।"[24] सामाजिक चेतना से तात्पर्य पाठक की रूचि का निर्माण करना और आवश्यकता पड़ने पर उसमें परिवर्तन या अनुकूलन करना। समाजशास्त्रीय दृष्टि साहित्य का अध्ययन करने का अर्थ साहित्य और पाठक के बीच संबंधों का विश्लेषण किया जाना है।

साहित्य और समाज के बीच सम्बन्ध को पहले व्यवस्थित विवेचन करने का श्रेय फ्रांसीसी दार्शनिक और आलोचक ईपालीत तेन (1828-93) को दिया जाता है। तेन ने तीन अवधारणाओं के उपयोग का प्रस्ताव दिया- प्रजाति, क्षण और परिवेश। तेन का दावा था कि "यदि इन शक्तियों को मापा जा सके और उनका अर्थ निकाला जा सके, तो इनसे भावी सभ्यता के लक्षणों के बारे में नतीजे निकले जा सकते हैं। प्रजाति, क्षण और परिवेश के बीच अंत:क्रिया एक व्यावहारिक अथवा चिन्तनशील 'मानसिक संरचना' उत्पन्न करती है। यह 'मानसिक संरचना' उन 'बीजरूप विचारों' के विकास की दिशा में ले जाती है जो निश्चित शताब्दियों और युगों की विशेषता होते हैं और महान कला एवं साहित्य में अभिव्यक्ति पाते हैं। इस सूत्र का महत्त्व भौतिक कारणों का बयान करने में उतना नहीं है, जो उन्नीसवीं शताब्दी में आम बात थी, बल्कि इस कारण है कि यह एक साहित्यिक कृति और उसके समाज के बीच निश्चित संबंधों की ओर संकेत करता है।"[25] साहित्यिक कृति की व्याख्या के लिए लेखक की जीवनी और परिवेश को आवश्यक माना गया है। मनोवैज्ञानिक आलोचक तो पूर्णत: लेखक की जीवनी पर आधारित विश्लेषण होता है। साहित्य का जोर विश्वदृष्टि है जो वैयक्तिक नहीं सामाजिक होता है। "साहित्य, कला, दर्शन और सारत: भाषा है। इनके माध्यम से मनुष्य एक दूसरे के भावों और विचारों का विनिमय करता है। व्यक्ति समसामयिक भी हो सकते हैं, भावी पाठक भी हो सकते हैं, ईश्वर भी हो सकते है। वह विचार विनिमय के अन्य प्रकारों से साहित्य और कला का स्वरूप भिन्न होता है। इनमें सब कुछ कहा नहीं जाता-कुछ अनकहा रह जाता है। यह उसकी संरचना का अंग है। इसके आगे भाषा के बारे में कुछ नहीं कहा गया है। किन्तु यह बताया गया है कि यद्यपि कृति व्यक्ति विशेष द्वारा रची जाती है पर उस रचना के मूल में विश्वदृष्टि होती है- यह अनुभव की गई विश्वदृष्टि है। अनुभूत, विश्वदृष्टि और बाहर के विश्व-प्रपंच में तारतम्य ढूढना आलोचना का काम है। जहाँ रचना की आन्तरिक और प्रपंच में संगति या संवाद नहीं है, वहाँ रचना घटिया दर्जे की होगी।"[26] विश्वदृष्टि की धारण गोल्डमान के साहित्य के समाजशास्त्र की बुनियाद है। विश्वदृष्टि मानव समाज के जीवन में पहले ही निहित होता है, लेकिन वह दर्शन, कला और साहित्य में व्यक्त होती है। इसलिए

कृति के अध्ययन से ही खोज किया जाता है न कि वर्ग के अध्ययन से। "प्रत्येक कृति किसी लेखक की रचना होती है और वह लेखक के विचारों तथा अनुभूतियों को व्यक्त करती है। लेकिन वे विचार और भाव समाज तथा वर्ग के दूसरे व्यक्तियों के व्यवहार और चिंतन से प्रभावित होते हैं। उनके स्वरूप को लेखक के अपने वर्ग या समूह और समाज के दूसरे व्यक्तियों के विचारों और भावों से जोड़कर अंतर्वैयक्तिक सम्बन्ध भावना के रूप में ही समझा जा सकता है। साहित्यिक कृति सामूहिक चेतना या परावैयक्तिक चेतना की अभिव्यक्ति इसा अर्थ में होती है। उसकी विश्वदृष्टि की संरचनाएं लेखक की निजी निर्मित नहीं होतीं, बल्कि उसके वर्ग के दूसरे व्यक्ति भी उस विश्वदृष्टि के सहभागी होते हैं।"[27]

हिंदी साहित्य में गद्य विधा में आत्मकथा का प्रमुख स्थान है। दलित साहित्यकारों ने अपनी वेदना, सामाजिक चेतना को आत्मकथा के माध्यम से अभिव्यक्त किया है। आत्मकथा में जीवन में घटित घटनाओं का सम्पूर्ण दस्तावेज होता है। आत्मकथा केवल सुखमय जीवन की घटना की व्याख्या के लिए नहीं होता है वह जीवन की दुखमय और अशोभनीय घटनाओं को ईमानदारी के साथ प्रस्तुत करने के लिए होता है। लेखक ईमानदारी पूर्वक जीवन की प्रत्येक घटना का उल्लेख करता है। इस प्रकार वह साहित्य के समाजशास्त्र के अधिक निकट दिखाई देते है, इसलिए साहित्य के समाजशास्त्र के प्रतिमान के माध्यम से दलित आत्मकथाओं का विश्लेषण करते है। "आत्मकथाएँ दलित लेखकों के अदम्य जीवन-संघर्ष के साथ आगे बढ़ने का संदेश देती हैं, क्योंकि दलित आत्मकथाकार बताना चाहते हैं कि जो नारकीय जीवन हमें मिला, उसमें व्यक्ति का अपराध नहीं है। शिक्षा, साहित्य, भूमि आदि उत्पादन के साधनों से वंचित और सामाजिक गतिविधियों से अलग-थलग कर हमें मजबूर बना दिया गया। यह हमारे पूर्वजन्मों के कारण नहीं है, बल्कि पक्षपातपूर्ण सामाजिक व्यवस्था की नियति के कारण है।"[28] दलित आत्मकथा व्यक्ति के जीवन के साथ उसके समय एवं परिवेश की भी व्याख्या करता है। मनोवैज्ञानिक आलोचकों के आधार पर दलित आत्मकथा को किसी व्यक्ति की व्यक्तिगत जीवन घटना का वर्णन है। लेकिन आत्मकथा पढ़ने के बाद यह भ्रम भी दूर हो जाता है कि वह एक पूरे समाज की परिस्थितियाँ का वर्णन है। "दलित आत्मकथाएँ

दलित समाज के ऐसे दस्तावेज हैं जो दलित जीवन की ऐतिहासिक त्रासदी को व्यक्त करते हैं। लेखकों ने अपने अनुभवों को प्रमाणिक दस्तावेजों का रूप दिया है जो कि दलित-चिंतन की आधारभूत तैयार करते हैं। अपने चिंतन की आग में अनुभवों को तपाकर, विश्लेषित करके इस तरह संयोजित किया है कि पाठक उससे दलित-जीवन के बारे में मत बना सके, उसे जान सके व समझ सके। लेखकों के अनुभव पाठकों-चिंतकों को आधार प्रदान करते हैं कि वे इन अनुभवों के आधार पर कोई दृष्टि विकसित कर सकें। दलित-चिंतन के लिए, ये अनुभव महत्वपूर्ण हैं जिनसे समाजशास्त्री, दार्शनिक, राजनेता बेहद महत्त्वपूर्ण सबक ले सकते हैं।"[29] दलित समाज का वर्णन इससे पहले सुव्यवस्थित ढंग से प्राप्त नहीं होता है। दलित लेखकों ने अपने अनुभव के माध्यम से साहित्य में चिंतन के स्वरूप की दृष्टि विकसित की है। जिसमें सम्पूर्ण मानव समाज के समानता एवं मूल अधिकार की माँग करते है। किसी भी समाज के लिए अपनी संस्कृति एवं सभ्यता होती है, लेकिन दलितों में शिक्षा से वंचित होने के कारण वे इसे लिपिबद्ध नहीं कर सके। शिक्षा प्राप्त होने पर इन्होंने अपने समाज को बचने के लिए सांस्कृतिक एवं समाज को सहेजने का प्रयास है। दलित साहित्य में समाज और संस्कृति की अभिव्यक्ति रचनाओं में प्रमुख रूप से देखी जा सकती है। "ऊपर से देखने पर दलित साहित्य का सरोकार केवल दलित समाज तक ही दिखाई पड़ता है, इसलिए ऊपरी तौर पर इसकी सामाजिकता दलित समाज तक ही दिखाई पड़ेगी; किन्तु इसकी गहराई में मानव मुक्ति का संग्राम छिपा हुआ है, इसलिए इसके सरोकार भी अखिल मानवता से है। इस दृष्टि से दलित साहित्य की सीमा में सम्पूर्ण मानव समाज समा जाता हैं। अत: यहाँ हम दलित साहित्य की सीमित और व्यापक दोनों ही सामाजिकता की बात करेंगे।"[30] दलित साहित्य पर यह आरोप लगता है कि वह केवल दलित समाज का ही साहित्य है लेकिन जब हम दलित साहित्य के चिंतन एवं उद्देश्य को देखते है तो इसमें सम्पूर्ण मानव समाज के मुक्ति एवं मानव जाति का उद्धार दिखाई पड़ता है। भारतीय समाज में गाँव, स्कूल एवं सरकारी कार्यालय का जो मानव समाज पर आदर्श रूप सब के सामने था उसको दलित आत्मकथाकारों ने अपने कोण से दिखाया है। "बेबी काम्बले की आत्मकथा की भूमिका में मैनेजर

पाण्डेय ने लिखा है-'अगर यह आत्मकथा है तो एक व्यक्ति की नहीं, बल्कि एक समुदाय की आत्मकथा है। व्यक्ति के बदले समुदाय को केंद्र में रखने से इन कृतियों का स्वरूप और मन्तव्य भिन्न हो जाता है। इनमें 'मैं' दृष्टा के रूप में होता है और उसके समुदाय का भूत, वर्तमान ही कथा का प्लाट बनता है। लेखक के 'आत्म' का विस्तार और विकास समुदाय की नियति में गूँथ कर ही प्रकाशित किया जाता है।"[31] दलित आत्मकथाओं की एक सीमा भी है अगर समाज को परम लक्ष्य बना दिया जायेगा तो आत्मकथा के तत्व समाप्त हो जायेगे। दलित आत्मकथाकारों ने समाज के साथ-साथ अपनी भी बात को बखूबी रखा है। आत्मकथाएँ भारतीय समाज के साथ दलित समाज के भीतर अन्याय, जातिगत भेदभाव को उजागर करती है। "समाजशास्त्र का उद्देश्य शोषण और विषमताहीन समाज का निर्माण करना है और इसी के मद्देनजर वर्तमान समाज की आलोचना करना है; समाज में चल रही प्रक्रियाओं को समझना है ताकि परिवर्तन को अंजाम दिया जा सके; तो समाज को शोषण, उत्पीड़न और उससे उत्पन्न पीड़ा को समझने की क्षमता विकसित करनी होगी। इसके लिए समाज वैज्ञानिकों को तर्कसंगत दृष्टिकोण से विभिन्न ज्ञान परम्पराओं को खंगालना तो होगा ही, लेकिन साथ ही एक संवेदनशील मनुष्य की तरह समाज में चल रही शोषण-प्रक्रियाओं को समझते हुए उनसे निरंतर संवाद स्थापित करना होगा।"[32] भारतीय सामाजिक संरचना जाति आधारित है। ब्राह्मणवाद के कई स्वरूप है जिसमें जाति, धर्म और लैंगिक भेदभाव से मुक्ति ही सामाजिक समरसता की कल्पना की जा सकती है। आत्मकथाएँ नये मुक्त समाज की कल्पना की आकांक्षा करती है। आत्मकथा में मनुष्य ही मुख्य चरित्र है।

दलित लेखक ने कला, शिल्प और सौंदर्यशास्त्र से ज्यादा प्रमुखता एक दलित की सामाजिक स्थिति, सांस्कृतिक अस्मिता और उसके आर्थिक अधिकारों को दिया है। "किसी भी दलित आत्मकथा को उठाकर देख लिया जाए, वहाँ सामाजिक अपमान, तिरस्कार, भेदभाव, अन्याय, पिछड़ापन, अन्धविश्वास, झाड़-फूंक, जादू-टोना, अशिक्षा, अज्ञानता आदि एक जैसी समस्याएँ देखने को मिल जायेंगी। इनकी सांस्कृतिक या धार्मिक आस्थाएँ पाखंड, अन्धविश्वास, भूत-प्रेत, दैवीय

शक्तियां अनेकानेक कुरीतियों के अतार्किक वर्चस्व को दर्शाती हैं। इनके जीवन का अर्थशास्त्र भूख, गरीबी, रोग, बालश्रम, शोषण और बेगार के इर्द-गिर्द मंडरा रहा है। ऐसी वितरीत, कटु स्थितियों में भी प्रत्येक दलित लेखक के संघर्ष पर एक नजर भर डालने से ज्ञान होता है कि जो जिजीविषा, अदम्य साहस, जीवट, संघर्षशील, धैर्य इनके मनोवैज्ञानिक को आकार देते हैं, वे दुर्लभ हैं।"[33] दलित आत्मकथा में सामाजिक उत्पीडन, आर्थिक शोषण को प्रमुख स्थान देती है। जिससे लड़कर रचनाकार मुख्यधारा के समाज के सामने एक आदर्श प्रस्तुत करता है। दलित समाज के प्रत्येक संरचना को आत्मकथा के माध्यम से आत्मकथाकर परत दर परत सबके सामने रखता है। सम्मान, बंधुत्व, प्रेम और स्वतंत्रता की बात तो अन्य साहित्य भी करते है लेकिन दलित साहित्य मानव मुक्ति की बात करता है। दलित साहित्य में कला और सौन्दर्य देखना व्यर्थ है। यह समाजशास्त्र के प्रतिमानों पर खड़ा हुआ है। जिसमें किसी भी कल्पना लोक में न जाकर यथार्थ चित्रण प्रमुख है। दलित साहित्य मानव श्रम के सौन्दर्य और अन्यायपूर्ण विसंगतियों से मुक्ति को अपना सामाजिक सरोकार माना है और इसके केंद्र में मनुष्य और मनुष्यता है।

3.3 दलित आत्मकथाओं का समाजशास्त्रीय विश्लेषण :

समाजशास्त्र के केंद्र में मानव समाज होता है जिसमें उसके द्वारा किये गए कार्यो का विश्लेषण किया जाता है। समाजशास्त्रीय विश्लेषण पद्धति एक वैज्ञानिक पद्धति है, जिसमें वह सामाजिक तत्त्वों का अवलोकन और विश्लेषण करता है। साहित्य और समाज किसी भी रूप में संस्कृति और परम्परा को नहीं नकार सकते है उन्हीं के आधार पर समाज का विश्लेषण होता है, जिसमें साहित्य मदद करता है। आत्मकथा में लेखक अपने जीवन की प्रत्येक घटना का उल्लेख करता है जिससे वह आत्मकेंद्रित होता तो है, लेकिन वह साथ ही साथ जिस समाज से उसका सम्बन्ध होता है उसके विषय में उल्लेखित करता है। आत्मकथा लेखन में यथार्थवाद प्रमुख होता है जिससे पाठक और समाज के सभी लोगों का ध्यान आकर्षित करता है, क्योंकि पाठक को लगता है कि यह समसामयिक जीवन में उनके साथ घटित हो रहा है। समाजशास्त्रीय पद्धति में यथार्थवाद और मानव समाज ही प्रमुख तत्त्व है

जिसको लेकर किसी भी विषय का विश्लेषण किया जाता है। दलित आत्मकथा समाज को उन तथ्यों से परिचित कराती है जो आम लोगों को नहीं पता होता है, जबकि ये सब हमारे समाज में घटित हो रहा है। यथार्थवाद आत्मकथा का प्रमुख गुण है, जिसमें 'मैं' के साथ 'हम' जुड़ा होता है। मनुष्य का जीवन अपने आप में प्रमाणिक होता है कोई भी रचनाकार लिखित झूठ नहीं बोलता है, हाँ यह जरुर है कि कुछ तथ्यों को छुपा सकता है।

दलित साहित्य का लेखन बहुत पुराना नहीं है यह आधुनिक युग की देन है। दलित रचनाकारों ने साहित्य की सभी विधाओं में रचना की है लेकिन आत्मकथा ने सभी लोगों का ज्यादा ही ध्यान आकर्षित किया है, क्योंकि आत्मकथा से सभी जुडाव महसूस करते है। हिंदी दलित आत्मकथा में 'अपने-अपने पिंजरे' मोहनदास नैमिशराय पहली आत्मकथा है। दलित आत्मकथाकार जिस समाज से सम्बंधित है उसको हिन्दुओं द्वारा अस्पृश्य माना जाता है। आत्मकथाओं के माध्यम से मुख्यधारा के समाज से कोई सांत्वना नहीं माँगते है बल्कि दलित समाज की अस्मिता और अस्तित्व की खोज आत्मकथा का प्रमुख ध्येय है। दलित आत्मकथा में मुस्लिम समाज का दलितों के सम्बन्ध को भी उजागर किया है। जिसमें मुस्लिम समाज भी दलितों के साथ सवर्णों जैसा ही व्यवहार करते हैं। दलित लेखक अपने समाज की अस्मिता, संस्कृति को प्रमुख स्थान देते है। "आत्मकथा में उठाया गया संस्कृति का सवाल अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। असल में नैमिशराय जी यही प्रबोधन अपनी कौम और तमाम दलित समाज को देना चाहते हैं कि अपने आपको पहचानों, अपनी संस्कृति की खोज करो। इतिहास तुम्हारा भी है, वही इतिहास सत्य नहीं है, जिसे कुछ लोगों ने अपनी सुविधा के लिए लिख डाला है: अन्यथा तुम्हें समाज इसी प्रकार रौदता रहेगा। हिन्दू तुम्हें दलित समझकर रौंदेगे और मुसलमान हिन्दू दलित। तुम न हिन्दू बन सकोगे, न मुसलमान अथवा और कोई प्रतिष्ठित कौम। आखिर तुम्हारी पहचान क्या है?"[34] दलित समाज मुख्यधारा के समाज के सामने अपने पहचान के संकट को उठाया है। यही प्रश्न दलित साहित्य के सामने आता है। हिन्दू समाज ने भारतियों को जातियों और वर्णों में विभक्त कर रखा है जिससे अन्य धर्म भी अछूते नहीं है। दलित समाज की अपनी

संस्कृति और सभ्यता रही है लेकिन शिक्षित न होने के कारण उनको सहेजकर नहीं रख सका। कोई भी समाज का अस्तित्व तब तक रहता है जब उसकी कोई संस्कृति और सभ्यता हो, लेकिन दलितों ने अपनी संस्कृति और सभ्यता को बचाए नहीं रखा जिससे आज वे अपनी अस्मिता और अस्तित्व के लिए लड़ रहे है। इसलिए दलित रचनाकारों ने सर्वप्रथम अपनी संस्कृति और सभ्यता को बचने के लिए आत्मकथा जैसी विधा को चुना है। "दलित आत्मकथा से क्षेत्र-विशेष की दलित जातियों, दलित समाज की रीति-रिवाज, परम्पराएँ, रहन-सहन, आचार-विचार, व्यवहार, तीज-त्यौहार, पूजा-पाठ एवं धार्मिक भावनाएँ तथा दलित जातियों में में व्याप्त बुराइयों का पता चलता है। मोहनदास नैमिशराय ने भी अपनी आत्मकथा में उपरोक्त सभी बातों का वर्णन किया है। दलित समाज के लोगों में कई बड़े मनोविकार हैं। उनके अन्दर आत्मग्लानि है। उनमें आत्मविश्वास, आत्मसम्मान की कमी है। दलित-ब्राह्मणवाद इनमें भी व्याप्त है। आतंरिक बुराइयों में, दलितों में दलित अर्थात अपने में भेदभाव एवं छुआछुत की भावना है। अछूत स्वंय दूससे अछूत से अस्पृश्यता की बर्ताव करता है।"[35] दलित रचनाकार अन्य समाज के यथार्थ के साथ अपने समाज के गुणों एवं दोषों को भी रेखांकित करते है और उसे भी ब्राह्मणवाद से जोड़ते है। आत्मकथा में रचनाकार अपनी भी कमी को दिखने से घबराते नहीं है और उन पर खुलकर बात करते है, जो बेहतर समाज निर्माण के लिए आवश्यक है। मोहनदास ने साथ रह रहे मुस्लिम समाज के विषय में बताया कि उनके रहते ही कई दंगे हुए और अख़बार वालों ने उसे दलित और मुस्लिम के दंगे के रूप में प्रकाशित किया। जबकि दलित समाज भी हिन्दू समाज का अंग है। लेकिन इस मौकों पर उसे हिन्दू समाज से अलग ही रखा जाता है। लेकिन जब भी सवर्णों के साथ मुस्लिम समाज की लड़ाई होती थी तो उसमें दलित समाज को भी शामिल किया जाता था और हिन्दू मुस्लिम दंगा कहकर संबोधित किया जाता। वैसे दलितों का सम्बन्ध मुस्लिम समाज से अच्छा था जब ईद होती थी तो मांस, सेवई दलित के घर भी आता था और सब उसे बड़े चाव से खाते थे और दलित समाज कोई उत्सव मानते तो मुस्लिम समाज के लोगों को बुलाते। पहली दलित आत्मकथा होने के नाते यह समाज में सामाजिक-सांस्कृतिक संवेदना जगाने में सफल रही है।

दलित आत्मकथा में एक समाजशास्त्री की दृष्टि पूरे आत्मकथा को पढ़ने के दौरान मिलती है जो पूरे सामाजिक ताने-बाने पर अपनी नजर रखते है। राजनीतिक दृष्टिकोण के साथ-साथ एक सजग समाजशास्त्रीय का मेल हो जाने से उनके युग एवं परिवेश की झलक मिलाती है। "आत्मकथाओं में काल की क्रमबद्धता होती है। पूर्व वृत्तान्त, अपने कुनबे का परिचय (बच्चन की आत्मकथा का पहला खंड-कायस्थ जाति का विस्तृत परिचय), जन्म, तत्कालीन परिस्थितियाँ, बचपन, युवावस्था, पढाई-लिखाई, सफलता-असफलता, वैवाहिक जीवन, सार्वजानिक जीवन की उपलब्धियाँ, प्रौढ़ावस्था, संपर्क में आये व्यक्ति, आत्म-परीक्षण वृद्धावस्था, गंभीर दार्शनिक चिन्तन, इस प्रकार का क्रम वहाँ होता है। दलित स्वकथनों में अपनी जाति, इस जाति-व्यवस्था में जीने वाले तबके, उनका आचरण, रोटी-रोजी समस्या, समृद्ध तथा सवर्ण समाज का इनके प्रति रवैया, दैनंदिन जीवन में होने वाले अपमान, शोषण, अन्याय, अत्याचार,पैदा की जाने वाली रुकावटें आदि का वर्णन यहाँ अधिक होता है।"[36] आत्मकथा लिखते हुए लेखक अपने समाज के लोगों एवं अन्य समाज की बात करते है तो अपने इतिहास के साथ-साथ अपने वर्तमान में घटित घटनाओं का क्रमबद्ध वर्णन होता है। दलित रचनाकार को शिक्षा एवं अन्धविश्वास की बात करने पर अपने समाज से ही विरोध झेलना पड़ता है। कुछ एक लोग मदद के लिय आगे आते है लेकिन विरोधियों की संख्या बहुत अधिक होती है जिनसे वह समाज से लड़कर आगे बढ़ता है।

भारतीय समाज कई स्तरों पर विभाजित है। जैसे-जैसे एक अध्येता के तौर पर इसका अध्ययन करते है तो इनमें असमानता स्पष्ट रूप से दिखाई पड़ती है। 'ओमप्रकाश वाल्मीकि' की आत्मकथा 'जूठन' भारतीय सामाजिक व्यवस्था के अंतिम पायदान पर स्थित वाल्मीकि (जिसे चूहड़ शब्द से भी संबोधित किया जाता है) से सम्बन्ध है। आत्मकथा के मध्यम से वाल्मीकि ने ऐसे सच को उल्लेखित किया है जो अभी तक हिंदी साहित्य में नहीं दिखा था। इनकी रचना में कल्पना का कोई सम्बन्ध नहीं है एवं एक समाज के द्वारा भोगे गए यथार्थ का चित्रण है। "दलित जीवन की पीडाएं असहनीय और अनुभव दग्ध हैं। ऐसे अनुभव जो साहित्यिक अभिव्यक्तियों में स्थान नहीं पा सके। एक ऐसी समाज

व्यवस्था में हमने सांसें ली हैं, जो बेहद क्रूर और अमानवीय है। दलितों के प्रति असंवेदनशील भी।...तमाम कष्टों, यातनाओं, उपेक्षाओं, प्रताड़नाओं को एक बार फिर जीना पड़ा। उस दौरान गहरी मानसिक यान्त्रनाएँ मैंने भोगी। स्वंय को परत-दर-परत उधेड़ते हुए कई बार लगा की कितना दु:खदायी है यह सब! कुछ लोगों को यह अविश्वसनीय और अतिरंजनापूर्ण लगता है।... जो सच है, उसे सबके सामने रख देने से संकोच क्यों?... इस पीड़ा के दंश को वही जानता है जिसे सहना पड़ा।"[37] दलित रचनाकारों ने भारतीय समाज के नियम, कायदा को बहुत ही सच्चाई के साथ सभी लोगों के सामने रखा है जिसमें रचनाकारों ने अपने व्यक्तिगत और पारिवारिक घटनाओं का उल्लेख भी ईमानदारी के साथ रखने में संकोच नहीं किया है। जूठन आत्मकथा में शिक्षा के महत्त्व के विषय में बात की गई है। जिस समाज को शिक्षा का महत्त्व ज्ञात न हो, और उनके पूर्वज अपना पूरा जीवन सवर्णों के काम-काज में लगा दिए हो, उन्होंने यह स्वीकार कर लिया हो कि हमारा जीवन केवल सेवा करने के लिए हुआ है। वह समाज अपने बच्चों को स्कूल किस मानसिकता के साथ भेजता।

वाल्मीकि ने अपने समाज में शादी के समय सलाम प्रथा का भी उल्लेख किया है जिसमें शादी के बाद वर अपने ससुसल में उन घरों के सदस्यों को सलाम करने जाता है, जहाँ वे परम्परागत रूप से सफाई का काम करते है। वधू पक्ष वहाँ से अपनी बेटी के लिए सामान एकत्रित करते है और उसी के साथ विदा कर देते है। यह परम्परा जो सफाई करते है उनके समुदाय में कायम है। लेखक भी सलाम प्रथा में अपने मित्र हिरम सिंह के साथ जाते है-"प्रत्येक घर के सामने खड़े होकर ढोल बजने वाला जोर से ढोल पीटता था जिसकी आवाज सुनकर औरतें, लडकियाँ बाहर आती थीं। हिरम सिंह उन्हें सलाम करता था। वे घूँघट के कोनों से हिरम सिंह को ऐसे निहारती थीं जैसे हिरम सिंह को चिड़ियाघर से लेकर आए हैं। किसी-किसी का व्यवहार बेहद रुखा और अपमानजनक होता था। लेने-देने पर दुल्हन की माँ को काफी सुनना पड़ता था। यानी आसानी से किसी के हाथ से कोई कपडा या बर्तन नहीं छुटता था। हिरम की सास कहती थी-"चौधराईन, मेरी कोई दो-चार लौंडी तो है नी जो मेरे और जमाई थारे दरवज्जे पे आवेंगे। इज्जत से लड़की को भेज सकूं, ऐसा तो कुछ दो..." लेकिन इस

गिडगिडाहट का कोई असर दिखाई नहीं पड रहा था। कोई-कोई तो अजीब मुद्रा में मुंह बनाकर कहते- " इन चूहड़ों का भी कभी पेट ही ना भरता।"[38] वाल्मीकि ने अपने भाई की शादी में सलाम करवाने से मना कर दिया और बहन की शादी में बहनोई को भी सलाम के लिए कहीं भी नहीं ले गया। जिससे लेखक के पिता उनका सहयोग करते हुए कहते है कि आज पढ़ाने का मतलब समझ में आया है। इस प्रकार लेखक के यहाँ से सलाम प्रथा ख़त्म हो जाती है। यह प्रथा दलित समाज को जीवन शुरू करने से पहले ही हीनता बोध से भर देती है। सवर्ण समाज के लोग तो सलाम प्रथा नहीं करते है फिर दलित समाज यह क्यों कर रहा है। यह तर्क जब लोगों के सामने वाल्मीकि ने रखा तो सब उसके सहयोग में आ गए और इस प्रकार इस प्रथा का अंत हो गया।

ओमप्रकाश वाल्मीकि जिस समाज से आते है उनके धार्मिक परम्परा, संस्कार, मान्यताएं और धार्मिक आस्थाओं की जानकारी 'जूठन' में मिलती है। "कहने को तो बस्ती के सभी लोग हिंदू थे, लेकिन किसी हिंदू देवी-देवता की पूजा नहीं करते थे। जन्माष्टमी पर कृष्ण की नहीं, जहारपीर की पूजा होती थी या फिर 'पौने' पूजे जाते थे। वे भी अष्टमी को नहीं, 'नवमी' के ब्रह्ममुहूर्त में। इसी प्रकार दीपावली पर लक्षी का पूजन नहीं, माई मदारन के नाम पर सूअर का बच्चा चढ़ाया जाता है या फिर कडाही की जाती है।...इस तरह त्यौहार कोई भी हो, पूजा इन्ही देवी-देवताओं की होती है।"[39] आत्मकथा में दलितों को हिन्दू होने पर सवाल करती है। जब हमारे त्यौहार में पूजे जाने वाले भगवान भिन्न है और उनकी पूजा-अर्चना के तरीके में अंतर है तो दलित हिन्दू कैसे हो सकते है। दलित समाज और हिन्दू समाज में धार्मिक रूप से अन्तर है। लेखक कहता है कि अगर वह भी हिन्दू है तो उनसे इतनी घृणा या भेदभाव क्यों करते है? हर समय जातीय-बोध की हीनता मस्तिष्क में क्यों भर देते है? जिस धर्म में समता एवं बंधुत्व न जहाँ भेदभाव ही प्रमुख हो उस धर्म का हिस्सा नहीं होना चाहिए।

दलित समाज के लिए सामाजिक, धार्मिक के साथ-साथ आर्थिक प्रश्न भी प्रमुख है। दलितों को सम्पत्ति रखने के अधिकार से वंचित किया जाता है और उनके श्रम का उचित मूल्य नहीं दिया जाता है जिससे दलित समाज आर्थिक बदहाली का शिकार होता है। "घर के सभी सदस्य आजीवन

काम करते रहे हैं, मगर आर्थिक संकट समाप्त नहीं हुए। चाहे फसलें कटाने का सवाल हो या ईख बोने का, इनसे अधिकतर बेगारी ही करवाई जाती रही हैं। चाहे घरों की सफाई का मामला हो, पशुओं के बांधने की जगह से गोबर कूड़ा-करकट उठाकर उसे साफ करने का या मृत पशुओं को उठाने का, सभी जगह दलित समाज के लोग ही जुटे रहे हैं। इतने श्रम साध्य काम के बदले मात्र गलियां...। कितने क्रूर समाज में रहे हैं हम, जहाँ श्रम का कोई मोल ही नहीं बल्कि निर्धनता को बरक़रार रखने का एक षडयंत्र ही था यह सब।"[40] भारतीय ग्रामीण व्यवस्था में दलित समाज जो अपनी आजीविका के लिए सवर्ण समाज पर निर्भर है उसे दिनभर मजदूरी कराके उसके श्रम का मूल्य नहीं दिया जाता है। दलित समाज का पूरा परिवार सवर्णों के यहाँ काम करता है फिर भी घर की आर्थिक स्थिति बहुत दयनीय है। लेखक की माँ लेखक को जानवर की खाल निकालने के लिए भेज देती है क्योंकि खाल बेचकर लेखक के परिवार को 20-25 रु. मिल जायेगा। जिससे परिवार को दो-तीन दिन के लिए खाने की समस्या से नहीं जूझना पड़ेगा।

दलित आत्मकथा सामाजिक चेतना के निर्माण में बहुत उपयोगी सिद्ध हुई है। दलित साहित्य ने समाज में लोकतान्त्रिक मूल्यों को स्थापित करने और विचारों को साहित्य का आधार बनाने में मदद की। सूरजपाल चौहान ने दो आत्मकथाएँ लिखी है तिरस्कृत, संतप्त। प्रथम भाग में लेखक ने अपने संघर्षों और सामाजिक,धार्मिक स्थिति की चर्चा की है। दूसरे भाग में दाम्पत्य जीवन के संबंधों के विषम में मुखर होकर बात की है। "काशीनाथ सिंह ने सूरजपाल चौहान की आत्मकथाओं पर लिखा है-"'तिरस्कृत' यदि तिरस्कृत होने की आत्मकथा है तो 'संतप्त' तिरस्कृत होने के संताप की। तिरस्कृत अपने गाँव से, अपने मुहल्ले से,अपने स्कूल और कालेजों से, अपने कार्यालय और अफसरों से। इस सारे तिरस्कारों का मुकाबला किया जा सकता है बशर्ते परिवार साथ हो, भाई साथ हो, रिश्तेदार, नातेदार साथ हों। लेकिन उस संतप्त का कोई क्या करें जिसे तमाम लोगों के सिवा पत्नी और बेटे तक के तिरस्कार ने दिया हो! सच पूछिए तो ये दोनों आत्मकथाएँ जुड़वां हैं। पैदा जरुर आगे पीछे हुई हैं लेकिन है जुड़वां। मगर तिरस्कार की पीड़ा महसूस करनी हो तो 'संतप्त' पढ़िए और वजहें

जाननी हों तो 'तिरस्कृत' पढ़िए! ईमानदारी दोनों में है- दु:साहस की हद तक! इस अर्थ में यह हिंदी की अकेली, बेबाक, बेजोड़ और 'बोल्ड' आत्मकथा कही जाएगी। ऐसी कृति लिखना बहुत जिगरे का काम था जो सूरजपाल ने किया है।"[41] हिंदी साहित्य में जो दलित आत्मकथाएँ लिखी गई है उनमें अंधविश्वास, गरीबी, अशिक्षा और भूख को जीवन का हिस्सा माना गया है। इस आत्मकथा में भूख से संघर्ष, जूठन पाने के लिए परिश्रम देखने को मिले है। मानव जीवन के लिए मूलभूत आवश्यकताएँ रोटी,कपड़ा और मकान दलित समाज से हमेशा से दूर रहा है। भारतीय समाज में जातिप्रथा की जड़े इतनी गहरी है कि आधुनिक युग में शिक्षित और शहर के लोग भी जाति व्यवस्था से ग्रसित है।

'मेरा बचपन मेरे कंधों पर' श्यौराज सिंह बेचैन की आत्मकथा में देखने को मिलाता है कि दलित समाज के लड़का को भारतीय व्यवस्था कैसे ख़त्म कर देना चाहती है लेकिन उसका जीवन जीने के प्रति संघर्ष ही उसे सफल बनाता है। बचपन में ही पिता के देहांत के बाद माँ और लेखक के बचपन के सपनों को रौद दिया। सुरक्षा और भूख की चिंता के लिए माँ को पति रूपी सहारे की आवश्यकता थी। इसके लिए उन्होंने रामलाल को चुना। भारतीय समाज में किसी भी स्त्री के पति की मृत्यु असमय हो जाती है तो पति के साथ महिला को भी जला दिया जाता था जिसे सती प्रथा कहते है या वह अन्य किसी भी पुरुष के साथ विवाह नहीं कर सकती है। जबकि दलित समाज में यह पहले से ही था कि पति या पत्नी की मृत्यु के बाद महिला या पुरुष विवाह करने लिए स्वतंत्र है। दलित आत्मकथाओं में यह चेतना देखने को मिलाती है। "पुनर्विवाह करना, विधवा विवाह करना या स्त्री-पुरुष को परस्पर सहमति से छोड़ना-जोड़ना हमारे यहाँ सामान्य प्रक्रिया थी। ब्राह्मणों जैसे जटिलता हमारे यहाँ आज भी नहीं है जिसमें विधवा स्त्री जिंदगी भर दूसरों पर बोझ बनी बैठी रहती है।"[42] भूख और गरीबी इस आत्मकथा के बीज तत्त्व है उसमें अन्धविश्वास और सामाजिक शोषण भी प्रमुख रूप से देखने को मिलता है। हिन्दू धर्म ने पिछले जन्म के कर्मफल के आधार पर यह जीवन मिलने की अवधारण को शोषण को समाज में बनाये रखने का उद्देश्य भी रहा है।

डॉ.. तुलसीराम की आत्मकथा मुर्दहिया का प्रारंभ ही अंधविश्वास और अशिक्षा से होता है। बचपन में ही चेचक के कारण लेखक की आँख चली जाती है तब उन्हें सब कनवा संबोधित करते है। भारतीय ग्रामीण संरचना के विषय में उन्होंने दलितों की बस्तियाँ दक्षिण दिशा में क्यों बसाई जाती है इसका हिन्दू अन्धविश्वास से उत्तर दिया कि कोई भी आपदा पहले दक्षिण दिशा से अति है। इसलिए गाँव में हमेशा दक्षिण में दलितों को बसाया जाता है। उन्होंने अपने आत्मकथा के नाम को भी व्याख्यित किया है जिसमें बताया है कि गाँव के लिए यही रास्ता था जो किसी भी कार्य के लिए हमेशा उपयोग में लिया जाता था, चाहे किसी की शादी हो, मृत्यु हो, शहर जाना हो, कोई जानवर मर गया हो तो उसकी खाल निकालना हो, जानवर चराने जाना हो , किसी मृत को दफनाना हो सभी कार्यों के लिए एक ही स्थान था। जिसे मुर्दहिया कहते है। "मुर्दहिया हिंदी आत्मकथा साहित्य का एक महत्त्वपूर्ण पड़ाव है, जिसे केवल 'दलित साहित्य' के परिपेक्ष्य में ही नहीं, मानव की जीवन इच्छाशक्ति व संघर्ष यात्रा के रूप में भी आंकलित किया जाना होगा। हालांकि इसका लोक जीवन, दलितों का दु:ख –दर्द, विश्वास-मान्यताएं, अपमानजनक स्थितियों, मानसिक द्वंद्व, गरीबी, वर्णवादी व्यवस्था, अन्याय व शोषण, दलितों की आतंरिक व्यवस्था के साथ-साथ कुछ अद्भुत लोकचरित्र ऐसा परिदृश्य हिंदी पाठकों के सम्मुख लाते हैं, जिनसे वे अपरिचित रहे हैं। जिसे वर्णवादी दृष्टि ने कभी न देखा, न सोचा, न उसे समग्र रूप से उजागर करना आवश्यक समझा। यही नहीं, इस कृति का शब्द वैभव भी अनोखा है। इसमें लोक जीवन का आख्यान लोक शब्दों के माध्यम से सम्मुख आया है।"[43]

दलित समाज के लोक तत्त्व को डॉ.. तुलसीराम ने आत्मकथा के माध्यम से सबके सामने रखा है। पूर्वांचल में ग्रामीण जीवन में जो शब्द अब मृत प्राय पड़े थे उनसे सभी पाठकों का परिचय कराया। "पंचायत द्वारा लिए जाने वाले निर्णयों के क्रम में डांगर (मरे पशु का मांस), शिवनारायानी पंथ के आयोजन के सम्बन्ध में गादी लगाना (तीन अवसरों पर चेलों की उपस्थिति में समारोह), मृतक के अंतिम संस्कार के सन्दर्भ में बहुरी (गेहूं के दाने), बहुरी भुजाने (गेहूं को भाड में भूनना) तथा डीह बाबा की पूजा के क्रम में भतुआ (एक प्रकार का कद्दू) सूअर की बलि के सन्दर्भ में खोभार (बलि से पहले

सूअर रखने की जगह) हिकना (दो फीट लम्बा अत्यंत नुकीला सरिया) तथा रहटठा (अरहर का डंडा) आदि शब्दावली का अर्थसहित प्रयोग अनभिज्ञ पाठक के लिए भी लोक प्रचलित शब्द जगत के द्वार खोलता है।"[44]

डॉ. धर्मवीर की आत्मकथा 'मेरी पत्नी और भेड़िया' में जीवन की कथा न होकर यह विवाह के बाद की पारिवारिक कलह की निजी कथा है। यह दलित समाज के सामाजिक, आर्थिक, राजनैतिक व सांस्कृतिक के मूल्यों को स्थापित करने वाली रचना नहीं बल्कि व्यक्तिगत समस्या को लाने एवं बिखराव की कथा है। "यह आत्मकथा 'जूठन' 'अपने अपने पिंजरे' 'नागफनी' 'मेरा बचपन मेरे कन्धों पर' आदि की भांति दलित उत्पीडन, भेदभाव, गरीबी, अशिक्षा, भूख, अन्धविश्वास, शोषण की कथा न होकर 'तिरस्कृत' और 'संतप्त' की भांति पारिवारिक त्रासदी की आप बीती सुनाती है, किन्तु इसा कथा में 'संतप्त' के लेखक जैसी असहायता व अवसाद नहीं है। यह कथा मूलत: पत्नी और छोटे भाई के संबंधों को रेखांकित करने के उद्देश्य से लिपिबद्ध है, जिसमें लेखक प्रत्येक प्रमाण साक्ष्य तर्क व पक्ष के साथ उपस्थित है।"[45] यह एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न है कि एक विद्वान् लेखक अपने जीवन के उतार-चड़ाव के निजी संघर्ष को क्यों लिपिबद्ध कर रहा है जबकि अन्य दलित आत्मकथाकर गरीबी, अशिक्षा, अन्धविश्वास, शोषण, उत्पीड़न को रेखांकित कर रहे है।

सन्दर्भ सूची:

1.शुक्ल, आचार्य रामचंद्र; हिंदी साहित्य का इतिहास; कमल प्रकाशन, दरियागंज, नई दिल्ली; संस्करण नवीनतम; पृष्ठ 15

2. पाण्डेय, मैनेजर; साहित्य और समाजशास्त्रीय दृष्टि; आधार प्रकाशन, पंचकूला, हरियाणा; संस्करण 2016; पृष्ठ 11

3. सिंह, बच्चन; साहित्य का समाजशास्त्र; लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद; संस्करण 2011; पृष्ठ 03

4. वही, पृष्ठ 03

5. डॉ. शर्मा, हरद्वारीलाल; साहित्य और कला; हिंदी साहित्य सम्मलेन, प्रयाग; संस्करण 1959; पृष्ठ 02

6. वही, पृष्ठ 05

7. वही, पृष्ठ 16

8. संपादक नवल, नन्द किशोर; हिंदी साहित्यशास्त्र; साहित्य का उद्देश्य-प्रेमचंद; वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली; संस्करण 2013; पृष्ठ 22

9. वही, पृष्ठ 23

10. संपादक नवल, नन्द किशोर; हिंदी साहित्यशास्त्र; मनुष्य साहित्य का लक्ष्य है-हजारी प्रसाद द्विवेदी; वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली; संस्करण 2013; पृष्ठ 49

11. संपादक नवल, नन्द किशोर; हिंदी साहित्यशास्त्र; संक्रांति-काल की कुछ साहित्यिक समस्याएँ- अज्ञेय; वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली; संस्करण 2013; पृष्ठ 57

12. संपादक नवल, नन्द किशोर; हिंदी साहित्यशास्त्र; मनुष्य साहित्य का लक्ष्य है-हजारी प्रसाद द्विवेदी; वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली; संस्करण 2013; पृष्ठ 43

13. संपादक नवल, नन्द किशोर; हिंदी साहित्यशास्त्र; वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली; संस्करण 2013; पृष्ठ 24

14. संपादक नवल, नन्द किशोर; हिंदी साहित्यशास्त्र; कविता क्या है- आचार्य रामचंद्र शुक्ल; वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली; संस्करण 2013; पृष्ठ 112

15. संपादक नवल, नन्द किशोर; हिंदी साहित्यशास्त्र; साहित्य का उद्देश्य-प्रेमचंद; वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली; संस्करण 2013 पृष्ठ 34

16. डॉ. सिंह, जे.पी.; प्रारम्भिक समाजशास्त्र; बिहार हिंदी ग्रन्थ अकादमी, पटना; संस्करण 2003, पृष्ठ 01

17. वही, पृष्ठ 35

18. वही, पृष्ठ 37

19. आहूजा,राम; मुकेश आहूजा; समाजशास्त्र; रावत पब्लिकेशन, जयपुर; संस्करण 2015; पृष्ठ 01

20. वही, पृष्ठ 03

21. पाण्डेय, मैनेजर; साहित्य और समाजशास्त्रीय दृष्टि; आधार प्रकाशन, पंचकूला, हरियाणा; संस्करण 2016; पृष्ठ11

22. वही, पृष्ठ 12
23. वही, पृष्ठ 49
24. स. जैन, निर्मला; साहित्य का समाजशास्त्रीय चिंतन; हिंदी मध्यम कार्यन्वय निदेशालय; दिल्ली विश्वविद्यालय, संस्करण 2009; पृष्ठ 09 (भूमिका)
25. वही, पृष्ठ 47
26. सिंह, बच्चन; साहित्य का समाजशास्त्र; लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद; संस्करण 2011; पृष्ठ 90-91
27. पाण्डेय, मैनेजर; साहित्य और समाजशास्त्रीय दृष्टि; आधार प्रकाशन, पंचकूला, हरियाणा; संस्करण 2016; पृष्ठ 166
28. नैमिशराय, मोहनदास; हिंदी दलित साहित्य; साहित्य अकादमी; नई दिल्ली; संस्करण 2018; पृष्ठ 172
29. चन्द्र, सुभाष; दलित आत्मकथाएँ अनुभव से चिंतन; साहित्य उपक्रम, दिल्ली; संस्करण 2012; पृष्ठ 156
30. ठाकुर, हरिनारायण; दलित साहित्य का समाजशास्त्र; भारतीय ज्ञानपीठ, दिल्ली; संस्करण 2010; पृष्ठ 73
31. तिवारी, बजरंग बिहारी; दलित साहित्य का सौंदर्यशास्त्र; नवारुण प्रकाशन, गाजियाबाद; संस्करण 2015, पृष्ठ 152
32. जैन, पुनीता; हिंदी दलित आत्मकथाएँ; सामयिक पेपरबैक्स, नई दिल्ली; संस्करण 2018; पृष्ठ 57
33. वही, पृष्ठ 58
34. ठाकुर, हरिनारायण; दलित साहित्य का समाजशास्त्र; भारतीय ज्ञानपीठ, दिल्ली; संस्करण 2010; पृष्ठ 448
35. यादव, रामअवतार; दलित आत्मकथा दलित महाकाव्य; अमन प्रकाशन, कानपुर; संस्करण 2016; पृष्ठ 94
36. नैमिशराय, मोहनदास; हिंदी दलित साहित्य; साहित्य अकादमी, नई दिल्ली; संस्करण 2018; पृष्ठ 177
37. काजल, अजमेर सिंह; दलित आत्मकथाएँ; अनामिका पब्लिशर्स एंड डिस्ट्रीब्यूटर्स (प्रा.) लिमिटेड, नई दिल्ली; संस्करण 2018; पृष्ठ177
38. वाल्मीकि, ओमप्रकाश; जूठन; राधाकृष्ण पेपरबैक्स, नई दिल्ली; संस्करण 2013; पृष्ठ 42
39.वही, पृष्ठ 53
40. काजल, अजमेर सिंह; दलित आत्मकथाएँ; अनामिका पब्लिशर्स एंड डिस्ट्रीब्यूटर्स (प्रा.) लिमिटेड, नई दिल्ली; संस्करण 2018; पृष्ठ 75
41. वही, पृष्ठ 125
42. वही, पृष्ठ 170
43. जैन, पुनीता; हिंदी दलित आत्मकथाएँ; सामयिक पेपरबैक्स, नई दिल्ली; संस्करण 2018; पृष्ठ 265
44. वही, पृष्ठ 269
45. वही, पृष्ठ 249